International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 1383-1385

असग़र वजाहत के उपन्यासों में चित्रित महानगरीय चेतना

मुहम्मद शाहीद
चेलपुर, मण्डल हुजराबाद, जिला–करीमनगर, तेलंगाना, भारत

प्रस्तावना

आजादी के बाद, कस्बों, छोटे शहरों, नगरों और महानगरों के परिवेश पर आधारित उपन्यासों की संख्या में जबरदस्त वृद्धि हुई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अधिकतर लेखक कस्बों, शहरों, नगरों और महानगरों में रहते हैं और प्रायः इसी क्रम में उनका गांवों से महानगरों में आव्रजन भी होता रहता है। यद्यपि कस्बों से लेकर महानगरों तक के जीवन के प्रश्न को अलग–अलग खानों में बाँटा जा सकता। जिंदगी की बहुत सी स्थितियाँ और उनकी वास्तविकताएँ समान होती है। मध्यवर्ग कस्बों से लेकर महानगरों तक फैला हुआ है। इसके साथ ही लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, उद्योगपतियों, व्यावसायियों और झुग्गी झोंपड़ी में रहनेवाले समुदाय हैं जो नगरों और महानगरों में रहते हैं।

असग़र वजाहत के 'पहर दोपहर', 'कैसी आगी लगाई', 'बरखा रचाई' आदि उपन्यासों में नगर–महानगरों का चित्रण हुआ है। खास रूप से दिल्ली, मुंबई जैसे शहरों की दर्द भरी दास्तान में पिसते आम आदमी का संघर्ष इन शहरों की चकाचौंध में कैसे गुम हो जाता है। ''दिल्ली में दर्जनों लावरिस कुचल कर रोज मर जाते हैं दैत्यकार, द्रुतगामी यांत्रिक आकृतियों के नीचे। कहीं एक बूँद खून का निशान भी नहीं मिलता।''[1]

'कैसी आगी लगाई' उपन्यास का कथानक साजिद अपने सपनों और क्रांतिकारिता की रोमांचक दुनियाँ से बेदखली एवं यथार्थ की पथरीली जमीन पर धाराशायी होने के बाद पराजय–बोध से मुक्ति के लिए जो तर्क ढूँढ़ता है, वह यही है। यहाँ कोई ठोस हल, पहल या उत्तर नहीं है। सिर्फ अनुत्तरित प्रश्न है। सपनों की राजधानी दिल्ली से विरक्ति और इससे नफरत की पराकाष्ठा है–''मैं तुमसे पक्का और सच्चा वादा करता हूँ। कसम खाता हूँ ...कि दिल्ली कभी नहीं लौटूँगा....मतलब रहने या काम करने....इस शहर पर थूक दो।...इस शहर पर 'आक थू' उसने प्लाटफार्म पर थूका।''[2] यहाँ मन में प्रश्न उठ सकता है कि बाबा और साजिद ने क्या वकाई सिर्फ दिल्ली शहर पर थूका था? या सिर्फ लोकतांत्रिक राष्ट्र की राजधानी पर थी–यह थूक? या कि यह व्यवस्था और उस वीभत्स मानसिकता के क्रूर–कूलटे चेहरे पर भी जो स्वभाव और व्यवहार में पूरी तरह से 'रोबोटिक' हो चुकी है और जिसे सोर्स की कुंजी से ही चलाया जा सकता है।

राजधानी व्यवस्था का केंद्र होने के कारण उम्मीदों का अंतिम शरण स्थल भी है। लेकिन बकौल बाबा–''यहाँ रहते रहोगे तो एक दिन तुम भी खूंख्वार जानवर बन जाओगे। दिल्ली का इतिहास देखों.... कभी यह शहर दिल्ली रहा होगा। अब तो यह भ्रष्ट दलालों...मैं राजनीतिज्ञों को दलाल ही मानता हूँ...का शहर है। भड़ुवों, रंडियों और षडयंत्रकारियों का शहर है। रहस्यों और बेजोड़ तिकड़मों का शहर है। इसका कोई 'कल्चर' नहीं है। बाहर से जो लोग आए हैं या आते हैं उनके लिए दिल्ली परदेश है और दिल्ली के लिए उनके मन में कुछ नहीं है। जैसे क्रूर आदमी के मन में वेष्या के लिए कुछ नहीं होता।...क्रूरता और अपमान और स्वार्थ और घृणा और तिरस्कार और भ्रष्टाचार और अनैतिक तरीके से वह सब प्राप्त करना जो चाहिए इस शहर का बुनियादी चरित्र है।''[3]

साजिद या बाबा के साथ–साथ उनके जैसे तमाम साथियों की स्थिति को ऐसे महानगरों में संघर्ष करते हुए परखा जा सकता है। साजिद जैसे लोग या सिर्फ समाज सेवा के उद्देश्य या फिर मीडिया के 'ग्लैमर' से आकर्षित होकर आए और तमाम राग–द्वेषों को झेलते हुए इसी में या तो मर खप गए थ्या फिर पलायन को बाध्य हुए–''हार गये....पराजित हो गए...शिकस्त हो गई....डिफीट हो गई...खाट खड़ी हो गई...क्या पोन गये थे...यही अच्छा है जान बच गई...खैर से बुद्धू घर को आए...गए थे राजधानी जीतने हा–हा–हा–हा ...गए थे अपनी प्रतिभा और मेहनत के बल पर समय के चेहरे पर कुछ लिखने....हा– हा–हा–हा–गए थे पत्रकार बनने और ले आए काली खाँसी और पेचिष।''[4]

साजिद एक अच्छा पत्रकार बनाना चाहता है। उसमें इस क्षेत्र के सारे गुण विद्यमान है। लेकिन महानगरों में जरूरी नहीं कि प्रतिभा के बल पर वह सारी चीज़ें आपको मिल जाय। साजिद दिल्ली में संघर्ष करते हुए इन दस महीने के खट्टे–मीठे अनुभवों के कारण उसे यह अच्छी तरह पता चल गया था कि पत्रकारिता को वह जो समझता था और जिस तरह की उसकी आशाएँ थी, वे बड़ी हद तक ठीक नहीं है। यहाँ भी लगभग वहीं सब कुछ है जो दूसरी नौकरियों में है। ग्लैमरस अवश्य है। बाबा साजिद से दो टूक शब्दों में कहता है – ''तुम यहाँ रहकर पत्रकारिता करना चाहते हो? स्वागत है तुम्हारा पर इस शहर में कुछ भी करने से पहले जन संपर्कों का ताना बाना बनाना होगा। सफलता के लिए 'गॉड फादर' चाहिए होंगे। उनके पैर चाटने होंगे...तुम बहुत बड़े पत्रकार हो सकते हो। मैं यह नहीं कहता कि यहाँ जो भी सफल हुआ है इस तरह हुआ है। लेकिन यह अवश्य कह सकता हूँ कि याहँ सफलता प्राप्त करने का कोई 'राज' है तो यही है। पत्रकारिता में, राजनीति में, व्यापार में – किसी भी क्षेत्र में पहले एक 'गॉड फादर' बनाओं।''[5]

बाबा दिल्ली में संघर्ष करते–करते खुद को तथा इस महानगर के परिवेश को बड़ी अच्छी तरह समझ चुका है। बाबा 'क्षितिज' में काम करने वाले हिंदी के टाइपिस्ट हैं और दो सौ दस रुपये पाने वाले और इसी में दो बच्चों का खर्च उठाते हैं। वे अपने जीवन से काफी असंतुष्ट हैं। बाबा के पास दूसरा आप्सन नहीं है। उन्होंने इसलिए अपना लक्ष्य बदल लिया है। अब उसने अपने अधूरे और कुचले सपनों को अपने बच्चों में शिफ्ट कर दिया है। राजधानी की भूल–भूलैया में उसने अपनी अधिकतम उर्जा नष्ट करने के बाद द्वंद्व और निराशा की पीड़ा से मुक्ति के लिए अफीम का सेवन शुरू कर दिया है। लेकिन साजिद के सामने वापसी का रास्ता अभी खुल पड़ा है, लिहाजा बाबा चाहता है कि वह सपनों की इस झूठी और

फरेबी दुनिया से जल्द मुक्ति पा ले। साजिद बाबा की बातों के गौर से सुनता है। बाबा उससे अपने बारे में बताते हुए कहता है – ''लड़की को मिरांडा हाऊस में बिना किसी सिफारिश के दाखिला मिला है। वह आइ.ए.एस. में बैठना चाहती है। लड़का मेडिकल में जाना चाहता है...अब मैं अपने लिए कुछ नहीं हूँ।....सिर्फ एक चलता–फिरता ढाँचा जो केवल एक इच्छा पूरी होने के लिए जी रहा है। मैं अगर अपने बच्चों को गरीबी और अपमान भरे जीवन से निकाल सका तो यही मेरा 'ट्रैक्टर' होगा और यही दक्षिण भारत की यात्रा....समझे।''[6]

जाहिर है बहुत बड़ा जनमानस अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए महानगरों की ओर प्रस्थान कर रहा है। कुछ संघर्ष करके एक अपना आशियाना बसा लेते हैं लेकिन बहुतायत संख्या अपने गाँव लौट आती है। अपना–अपना अभाव सबके पास है फिर भी इसी में महानगरों में सब लोग संघर्ष करते है। आज दिल्ली जैसे महानगरों में लगता है कि हर लोग बदहवास भाग रहे हैं। कहाँ भाग रहे हैं किसी को पता नहीं। डी.टी.सी. बसों में लटकते हुए और जान हथेली पर लिए लोग भाग रहे हैं। कहाँ भाग रहे हैं, और एक दूसरे को कुचल रहे हैं। बाबा इसी भागती हुई दिल्ली का वर्णन आज के परिवेश में साजिद से कहता है – ''पैसा हो तो क्या नहीं हो सकता। इंपीरियल होटल में रह सकते हो। टैक्सियों में घूम सकते हो। तब दिल्ली का मजा आऐगा।...यार यहाँ कोई किसी को उठाता तक नहीं। कल एक अंधेड़–सा आदमी बस पर चढ़ने की कोशिश में फिसलकर गिर गया। उसके पीछे जो आदमी थे उसके पीठ पर पैर रखकर तेजी से बस में चढ़ गए। इस साल शहर को क्या कहोगे जहाँ आदमी के लिए दूसरे आदमी के दिल में कोई जगह नहीं है। यह तो साला शहर भी नहीं है। एक हरामी औलाद है...जो छोटे शहर और महानगर के अनैतिक 'क्रास' से पैदा हुई है...यहाँ रहते रहोगे तो तुम भी एक दिन खूँखार जानवर बन जाओगे।''[7]

दिल्ली में हजारों लोग आए हैं या आते हैं उन्हें दिल्ली एक परदेश लगता है। उन्हें यह एहसास होता है कि दिल्ली उनका नहीं है। अर्थात आज जो दिल्ली है इसमें बाबू है, पाकिस्तान से आये शरणार्थी है, हरियाणा से आए जाट बस कंडक्टर हैं और इसमें पश्चिमी उत्तरप्रदेश से आऐ छोटे–मोटे कर्मचारी या दुकानदार है। लेकिन यह दिल्ली आज इनकी नहीं है उनकी भी नहीं है जो गलियों, उपेक्षित मुहल्लों में रहते हैं और छोटी–छोटी जीविका करके अपना और अपने परिवार का पेट भरते हैं। इसकी वजह बताते हुए बाबा कहता है – ''यह दिल्ली तो किसी की नहीं है। यही वजह है कि लोग निर्मम हैं। क्रूरता और अपमान और स्वार्थ और घृणा और तिरस्कार और भ्रष्टाचार और अनैतिक तरीके से वह सब प्राप्त करना जो चाहिए–इस शहर का बुनियादी चरित्र है।''[8]

असग़र वजाहत के एक उपन्यास 'पहर दोपहर' में मुंबई जैसे महानगर को आधार बनाया गया है। मुंबई देश के सपनों की राजधानी कही जाती है। यहाँ फिल्मी चकाचौंध का अपना आकर्षण है। न जाने दूर–दराजों के कितने लड़के–लड़कियाँ फिल्मों के आकर्षण में यहाँ खिंचे चले आते हैं। किसी को सफलता हाथ लगती है तो कोई असफल होकर लौट जाता है। वाचक के अनुसार ''यह शहर मुझे पसंद भी है। यहाँ जो है कम–से–कम अपने देश के किसी शहर में नहीं है। शहर के अपने उसूल हैं। वह आदमी को अपने अनुसार ढाल लेता है। जबकि दूसरे शहरों में यह ताकत नहीं है। वहाँ कुछ न कुछ ऐसा 'निजी' बचा रहता है जिस पर लोग गर्व कर लेते हैं लेकिन बंबई में ऐसा कुछ नहीं है।''[9]

देश के कोने–कोने से सपनों के पूरा होने की इच्छा पाले लोग यहाँ आते हैं। हर कोई सफलता के लिए जी–तोड़ मेहनत करता है। कोई जीत जाता है तो कोई हार जाता है। यहाँ न सुबह होती है न रात। उपन्यास का पात्र धर्मवीर अर्थात् धीरू लगभग दस साल पहले बंबई आया, उस समय उसके पास एक कौड़ी भी नहीं थी। वह फुटपाथ पर सोता था। लेकिन अब ''ऐड फिल्म का सबसे बड़ा डायरेक्टर। 'इंडिया ऐड' वाले उसे 'बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स' तक में रखने पर मजबूर हुए...काम बिल्कुल भूत की तरह करता था। रात–दिन, सुबह–शाम का कुछ होश नहीं रहता था। एक यूनिट के साथ दिन में शूटिंग करता था तो दूसरी के साथ रात में।''[10] कहा भी जाता है कि मुंबई उसी की है जिसके पास पैसा है। उपन्यास की पात्र पिया भी इसी चकाचौंध भरी दुनिया में पैसा और शोहरत कमाने आती है। पिया आर्ट्स कॉलेज में होती है तभी 'एडवरटाइजिंग' वालों की नजर उस पर पड़ गई और उसे ऑफर पर ऑफर मिलते लगे। हलात यह हो गई बाप की मर्जी के बिना पिया बड़ौदा से बंबई आ गई। लेकिन पिया की हालात यह हो गई कि ''ऐड वाले पिया को बंबई ले आये। काम भी मिला लेकिन शर्तों पर....शर्ते क्या हो सकती है....इसके बाद पिया इस हाथ से उस हाथ और उस हाथ से उस हाथ चक्कर लगाती रही। किसी ने राय दी फिल्मों में क्यों नहीं जाती हो।....पिया फिल्मवालों से टकराने लगी। फिल्म वाले 'ऐड' वालों से ज्यादा शरीफ नहीं होते। कुछ दिनों में हुआ यह कि न तो वो 'ऐड़' की रह गई और न फिल्मों में आ सकी। उन्नीस साल कि पिया को लगने लगा कि उसकी जिंदगी पूरी हो चुकी है।।''[11] जसिया के संघर्षों की कहानी भी यही है। वह कहता है, ''बॉस इस शहर में चाहे फुटपाथ पर मर जाऊँ लेकिन वापस नहीं जाऊँगा।''[12] जसिया अपने माँ–बाप का इकलौता लड़का है। वह अपनी माँ के गहने लेकर घर से भागा है और उसी गहने को बेचकर अब तक उसका काम चल रहा है। लेकिन कब तक। बंबई की महँगाई में वह समझौता नहीं कर पाता है। वह वाचक से कहता है – ''सोचता हूँ कोई 'ठीया' ठीक कर के दो–चार भैंसे पाल लूँ। बंबई में दूध का दाम बहुत अच्छा है। सौ–पचास की आमदानी हो जाएगी अपना स्ट्रगल भी चलता रहेगा और करोबार खड़ा हो जाएगा।''[13] उपन्यास में एसे अनेक पात्र है जो इस क्षेत्र में संघर्ष करके भी असफल हो जाते है और उन्हें लगता कि उन्हें यहाँ कोई अन्य धन्धा भी शुरू कर देना चाहिए। इस उपन्यास में हर पात्र कुछ पाने के लिए बंबई में भागता–फिरता दिख रहा है। जालिब, मानस, जसिया, पिया, रतनसेन, हैदर साहब सभी सही–गलत संघर्ष करते हैं। बंबई की जिंदगी उन्हें नहीं छोड़ती और ये बंबई को नहीं छोड़ते।

'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' से निकले तीन दोस्तों की बंबई की कहानी का भी उपन्यास में मार्मिक चित्रण मिलता है। नरेश, पाण्डेय और अमित अभिनेता बनने आते हैं। तीनों की हालत बहुत ही दयनीय होती है। किसी को यहाँ काम नहीं मिलता हालात यह हो गई कि उनके पास खाने तक के पैसे नहीं हैं। ये लोग पानी पीकर चुपचाप स्टेशन के प्लेटफार्म पर सो जाते हैं। एक दिन ऐसा भी आ जाता है कि नरेश भूखे पेट सोया तो सुबह उठा ही नहीं। वष्ह सुबह सफाई करने वालों की लातें खाकर भी नहीं उठा। अर्थात वह मर चुका था। इस दृश्य को रचनाकार ने इस प्रकार चित्रित किया है, ''अमित काँपने लगा और उसी हालत में पांडेय के पास पहुँचा। पांडेय ने जब सुना कि नरेश मर चुका है तो कुछ देर तक तो वह कुछ नहीं बोला, फिर कहने लगा–चलो, वापस चलें, दिल्लीवापस चले। दोनों सीधे स्टेशन आए और बिना टिकट दिल्ली जाने वाले गाड़ी में बैठ गए। जब ट्रेन चलने लगी तो पांडेय ने अपना सिर निकाला और प्लेटफार्म पर थूककर कहा, ''बंबई थू।' ऐसा उसने एक बार नहीं किया। वह पागलों की तरह बाहर थूकता रहा और 'बंबई थू', 'बंबई थू' करता रहा।''[14]

महानगरों की चकाचौंध के पीछे कई अंधेरे छुपे होते हैं और यह

अंधेरा ही महानगरों की सच्चाई है। इन अंधेरों में एक बहुत बड़ी आबादी रहती है। महानगरों को सस्ते मजदूर चाहिए। और मजदूर को मशीन नहीं पैदा कर सकती। इन मजदूरों को खाना चाहिए, रहने की जगह चाहिए, परिवार चाहिए और सब इस तरह कैसे दिया जा कि वे अपनी कम से कम तनख्वाह में पूरा कर सकें। ये मजदूर जानवरों की तरह जालों में रहते हैं, ये जाल तथा इनमें रहने वालों की जिंदगी को रचनाकार यूँ बयान करता है – ''टीन का एक बहुत बड़ा शेड...जैसे फैक्ट्रियों, कारखानों का होता है। उसके नीचे छोटी–छोटी जगाहों पर अपने बक्से, आल्मारियाँ या दीगर सामान रखकर 'घर' बनाये गये थे। मतलब एक बड़ी–सी छत के नीचे एक लाइन से सैकड़ों परिवार रह रहे थे। लगभग दस–पंद्रह फीट लंबी–चौड़ी जगह हर परिवार के पास थी। उसी में चूल्हा था, उसी में सोने का इंतजाम उसी में बच्चे पढ़ रहे थे। जवान ताश खेल रहे थे, औरतें खाना पका रही थी, बूढ़े गप्प मार रह थे।....लगता था एक व्यवस्थित प्लेटफार्म है जिस पर बैठे लोग ट्रेन का इंतजार करते–करते इतने ऊब गए हैं कि उन्होंने बक्से, बिस्तर, मोढ़े जमाकर थोड़ी सी जगह में 'घर' बना लिए हैं और गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं।''[15]

कहा जा सकता है कि बाजार द्वारा रचे गए चुँधियाते अंधेरों को नकार कर भीतर के स्निग्ध प्रकाश को जिलाए रखने की लगन इन उपन्यासों के जरिये पैदा हुई है।

संदर्भ

1. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 390
2. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 390
3. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 387–388
4. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 390
5. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 388
6. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 389
7. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 389
8. कैसी आगी लगाई, असग़र वजाहत, पृ.सं. 388
9. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 17
10. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 28
11. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 28
12. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 46
13. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 92
14. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 47
15. पहर दोपहर, असग़र वजाहत, पृ.सं. 56